शोध मंथन Vol. XVI No.4 Oct.- Dec. 2025 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X, Impact Factor 8.877 (SJIF)
https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i04.99

मानव अधिकार की अवधारणा

प्राप्तिः 05.12.25
स्वीकृतः 20.12.25

99

प्रो. निंरजना शर्मा
(राजनीति विज्ञान विभाग)
राजकीय महाविद्यालय खाड़ी टि0ग0
ईमेलः dr.niranjanasharma@gmail.com

सारांश

मानव बुद्धिमान व विवेकपूर्ण प्राणी है और इसी कारण इसको कुछ ऐसे मूल तथा अहरणीय अधिकार प्राप्त रहते हैं जिसे सामान्यतया मानव अधिकार कहा जाता है। चूँकि ये अधिकार उनके अस्तित्व के कारण उनसे सम्बन्धित रहते हैं अत : वे उनमें जन्म से ही निहित रहते है। इस प्रकार मानव अधिकार सभी व्यक्तियों के लिये होते हैं चाहे उनका मूल वंश, लिंग तथा राष्ट्रीयता कुछ भी हो। ये अधिकार सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक हैं क्योकि ये उनकी गरिमा एवं स्वतंत्रता के अनुरूप हैं तथा शारीरिक, नैतिक, सामाजिक और भौतिक कल्याण के लिये सहायक होते है। ये इसलिये भी आवश्यक हैं क्योकि ये मानव के भौतिक तथा नैतिक विकास के लिये उपयुक्त स्थिति प्रदान करते हैं। इन अधिकारों के बिना सामान्यतः कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। मानव–जाति के लिये मानव अधिकार का अत्यन्त महत्व होने के कारण मानव अधिकार को कभी–कभी मूल अधिकार, आधारभूत अधिकार अन्तर्निहित अधिकार, प्राकृतिक अधिकार और जन्म अधिकार कहा जाता है। यद्यपि मानव अधिकार निर्विवाद रूप से आज के समय में एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता है फिर भी विभिन्न राज्यों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विधिक प्रणाली, उनके विचार तथा उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों में भिन्नता के कारण इस शब्द को परिभाषित करना कठिन है।

परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक ऐसी विधि मानी जाती थी जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को विनियमित करती थी। अतः यह विधि केवल राज्यों के क्रिया–कलापों से ही सम्बन्धित थी। यह मत इस अभिधारणा पर आधारित था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का सृजन राज्यों के द्वारा किया जाता है। और उनके द्वारा बनाये गये नियम उन्हीं पर विधिमान्य हैं। इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा अधिकतर अधिकार व कर्त्तव्य राज्यों के लिये ही बनाये गये थे। राष्ट्र ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय थे। व्यक्तियों (Individual) का अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से कोई महत्व नहीं था। वे नागरिकता या राष्ट्रीयता के माध्यम से केवल राज्यों से सम्बन्धित रहते थे और यदि वे दूसरे राज्यों में जाते थे तो अन्यदेशीय (Alien) की भूमिका में राज्यों से सम्बन्धित रहते थे। यदि व्यक्तियों द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाता था जिससे किसी अन्य राज्य को हानि पहुँचती थी तब उस व्यक्ति के

कार्य के लिये वह राज्य हानि के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता था जिससे वह सम्बन्धित रहता था। यद्यपि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि – के अनुरूप या उसके अनुसार कतिपय कार्य करते थे और उनको विदेशी राज्यक्षेत्र पर कुछ अधिकार व कर्त्तव्य दिये गये थे, जैसे राज्यअध्यक्षों और राजनयिक दूतों को, फिर भी उनको अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय नहीं माना जाता था। इन अधिकारों को धारण करने का आधार राष्ट्रीय विधि माना जाता था न कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि।' अतः केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय थे। व्यक्ति मात्र लक्ष्य थे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्तियों की स्थिति में द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद बहुत ही अधिक परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय विधि में कई अत्यन्त महत्वपूर्ण विकासों में से एक है। राज्यों के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में व्यक्तियों को कर्तव्य और अधिकार दिये जाने के कारण उनको अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय माना जाने लगा। यद्यपि इस पर कोई विवाद नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्राथमिक (primary) रूप से राज्यों के सम्बन्ध को विनियमित करती है तथा राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राथमिक विषय हैं, किन्तु वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अकेले विषय नहीं हैं। उनके अतिरिक्त व्यक्तियों को भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय, उनको अधिकार व कर्त्तव्य दिये जाने के कारण, माना जाता है। न्यूरेम्बर्ग अधिकरण द्वारा उचित ही कहा गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा राज्यों के कर्तव्यों के साथ ही साथ व्यक्तियों को भी दिये गये हैं। यह धारणा इसलिये है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अपराध व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं न कि राज्यों द्वारा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का क्रियान्वयन व्यक्तियों को दण्डित कर ही हो सकता है जो कि अपराध करते हैं। **ओपेनेहाइम** ने उचित ही कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि अब ऐसी विधि नहीं रह गई है जो एकमात्र राज्यों से सम्बन्धित हो, जैसा यह पहले था। इसके कई नियम प्रत्यक्षतः व्यक्तियों की स्थिति तथा क्रिया–कलापों को विनियमित करने से सम्बन्धित हैं और कई नियम अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित करते हैं। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि में उनकी स्थिति इस कारण कमजोर है क्योंकि इस विधि में उनको अधिकार व कर्त्तव्य केवल राज्यों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। अतः उनकी स्थिति राज्यों की इच्छा पर निर्भर करती है। इसीलिए व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का व्युत्पन्न विषय कहा जाता है जबकि राज्यों को मूल विषय क्योंकि वे विद्यमान विषयों के किसी औपचरिक विनिश्चय से स्वतन्त्र है। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद यह निर्विवाद हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा उसी समय बनी रह सकती है जब व्यक्तियों की स्थिति में सुधार हो तथा उनके अधिकारों व मूल स्वतन्त्रताओं की अभिवृद्धि हो इसी कारण व्यक्तियों को राज्यों द्वारा दिये गये कई अधिकारों में से एक अधिकार को मानव अधिकार कहा जाता है जो आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय बन गया है। मानव अधिकार को इसलिए भी परिभाषित करना कठिन है क्योंकि यह एक सामान्य शब्द है और इसके अन्तर्गत सिविल और राजनैतिक अधिकार तथा आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित रहते हैं। वियना में 1993 में आयोजित विश्व मानव अधिकार सम्मेलन की घोषणा में यह कहा गया था कि सभी मानव अधिकार व्यक्ति में गरिमा और अन्तर्निहित योग्यता से प्रोद्भूत होते हैं और व्यक्ति मानव अधिकार तथा मूल स्वतंत्रताओं का केन्द्रीय विषय है। **डी0डी0 बसु** मानव अधिकार को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते हैं, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी अन्य विचारण के मानव परिवार का सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i04.99

के विरूद्ध धारण करना चाहिये। अधिकार ,उन्मुक्तियाँ होने के कारण, इस बात को निर्दिष्ट करते हैं कि कतिपय कार्य व्यक्तियों के लिए उनकी इच्छा के विरूद्ध नहीं किया जा सकता या नहीं किया जाना चाहिए। इस अवधारणा के अनुसार मानव को उसकी मानवता के परिणामस्वरूप अन्यायोजित और अपमानजनक व्यवहार से संरक्षित किया जाना चाहिए। इस प्रकार मानव अधिकार के संरक्षण का सिद्धान्त व्यक्ति की अवधारणा से तथा उसका सम्बन्ध संगठित समाज में रहने के कारण उत्पन्न होता है। मानव अधिकार को समाज में व्यक्तियों के व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास के लिए आवश्यक होने के कारण निश्चित रूप से संरक्षित किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों को उपलब्ध कराया जाना चाहिए। संरक्षण की आवश्यकता राज्यों की सरकारों द्वारा व्यक्तियों के क्रिया–कलापों पर नियंत्रण में वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई है, जिसे किसी भी तरह वांछनीय नहीं माना जा सकता। व्यक्तियों की ओर से उनके अधिकारों के सम्बन्ध में संचेतना भी राज्यों द्वारा संरक्षण को आवश्यक बना दिया है।

मानव अधिकारों का महत्व (Importance of Human Rights)

मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं के सम्मान की अभिवृद्धि संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों में से एक है। उसके बाद के दशकों में मानव अधिकारों की अभिवृद्धि तथा उसके संरक्षण के सम्बन्ध में पूरे विश्व में जागरूकता पैदा हो गयी है। मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए कई सन्धियाँ निर्मित की जा चुकी हैं जिसके पक्षकार विश्व के अधिकतर राज्य हो चुके हैं। प्रश्न उठता है कि मानव अधिकारों का क्या महत्व है? क्यों विश्व के राज्य मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए तत्पर हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं–

(1) मानव अधिकार समाज में व्यक्तियों के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं।

(2) मानव अधिकार मानवीय गरिमा से सम्बन्धित हैं। राज्यों में सरकारों द्वारा व्यक्तियों के क्रियाकलापों पर अवांछनीय नियन्त्रण रखने के कारण मानव अधिकारों को जागरूक बना दिया है।

(3) मानव अधिकार दुर्बल समूह (Vulnerable groups) जैसे महिलाओं, शिशुओं, शरणार्थी, प्रवासी मजदूर तथा उनके परिवार, असमर्थ व्यक्तियों तथा वयोवृद्ध व्यक्तियों के अधिकारों को संरक्षित करता है।

(4) मानव अधिकार व्यक्तियों के जीवन की न्यूनतम आवश्यक्ताओं को उपलब्ध कराते हैं।

(5) मानव अधिकार व्यक्तियों के शिक्षा की आवश्यकता को पूरा करते हैं।

(6) मानव अधिकार व्यक्तियों को काम द्वारा जीविका पाने के अधिकार को मान्यता देता है।

मानवीय गरिमा तथा उसके सम्मान को मान्यता देना आज के अन्तर्राश्ट्रीय विधि की एक महानतम उपलब्धि है। मानवीय गरिमा को बनाये रखने के लिये व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण प्राप्त हैं। यह धारणा स्पष्ट रूप से विभिन्न क्षेत्रों के लिए बनाये गये अभिसमयों से स्पष्ट हो जाती है, जिन्हें पिछले 80 वर्षों में संयुक्त राष्ट्र संगठन के तत्वावधान में अंगीकृत किया गया है। विश्व संगठन और उसके कई विशिष्ट अभिकरणों (Specialized Agencies) द्वारा अंगीकृत विभिन्न घोषणाओं में यह कहा गया है कि उनके सदस्य मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं के सार्वभौमिक सम्मान की अभिवृद्धि करने और उनका अनुसरण करने के लिए स्वयं वचन दिये हैं। राज्य स्वयं मानव के

अधिकारों के प्रति सचेष्ट है। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गैर–सरकारी संगठन भी मानव अधिकार के उल्लंघन के मामलों को प्रकाश में लाने और उनकी पुनरावृत्ति को निवारित करने के ढंग और उपाय खोजने के लिए प्रतिबद्ध हैं। मानव अधिकार विधिक हैं,नैतिक है क्योंकि मानव अधिकार मानव गरिमा का संरक्षण करने की मूल्य–आधारित प्रणाली है और बृहत्तर (larger) अर्थ में राजनैतिक है। ये व्यक्तियों पर सरकारों की शक्ति को सीमित करने हेतु भी संक्रियशील होते है। फिर भी, किसी व्यक्ति को यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि इसकी प्रकृति एवं इन अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत संरक्षण के संबंध में कई पहलू भ्रमात्मक हैं।

मानव अधिकार की अवधारणा का विकास

मानव अधिकारों के संरक्षण के प्रमाण प्राचीन काल की बेबीलोनिया विधि (Babylonian Laws), असीरिया विधि (Assyrian Laws), हित्ती विधि (Hitti Laws) तथा भारत में वैदिककालीन धर्म (dharm of Vadic period) में पाये जा सकते हैं। विश्व के सभी प्रमुख धर्मों का आधार मानवतावादी है जिसमें अन्तर्वस्तु में भेद होने के बावजूद मानव अधिकारों का समर्थन करते हैं। मानव अधिकारों की जड़ें प्राचीन विचार तथा "प्राकृतिक विधि" (natural law) और "प्राकृतिक अधिकारों" की दार्शनिक अवधारणाओं में पायी जाती है। कुछ यूनानी तथा रोमन दार्शनिकों ने प्राकृतिक अधिकारों के विचार को मान्यता प्रदान की थी। प्लेटो (427–348 बी० सी०) उन सर्वप्रथम लेखकों में से एक थे जिन्होंने नैतिक आचरण के सार्वभौमिक मानक की वकालत की थी। इसका अभिप्राय यह था कि विदेशियों से उसी प्रकार संव्यवहार किये जाने की अपेक्षा की जाती है जिस प्रकार से कोई राज्य अपने देशवासियों से संव्यवहार करता है। इसमें सभ्य ढंग से युद्धों के संचालन की भी विवक्षा होती थी। रिपब्लिक (सी० 400 बी० सी०) ने सार्वभौमिक सत्यों के विचार का प्रस्ताव रखा जिसे सभी व्यक्तियों को मान्यता देनी चाहिए। व्यक्तियों को सार्वजनिक कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए। अरिस्टाटेल (Aristotel) (384–322 बी० सी०) ने राजनीति में लिखा कि न्याय, सद्‌गुण (virtue) तथा अधिकार भिन्न प्रकार के संविधानों तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। सिसेरो (Cicero) (106–43 बी० सी०), जो एक रोमन राजनेता थे, ने अपनी कृतिदि लॉज (The Laws) (52 बी० सी०) में प्राकृतिक विधि तथा मानव अधिकारों की नींव रखी। सिसेरो का यह विश्वास था कि ऐसी सार्वभौमिक मानव अधिकार विधियाँ होनी चाहिए जो रूढिगत तथा सिविल विधियों से श्रेष्ठ हो। सोफोक्लेज (Sophocles) (495–406 बी० सी०) राज्य के विरुद्ध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विचार की अभिवृद्धि करने वाले व्यक्तियों में से अग्रणी थे। स्टोयक (Stoic) ने विधि की उच्चतर व्यवस्था को निर्दिष्ट करने के लिए प्राकृतिक विधि की ऐसी नैतिक अवधारणा का प्रयोग किया जो प्रकृति के समरूप थी तथा जो सभ्य समाज एवं सरकार की विधियों के मानक के रूप में प्रयोग की जानी थी। बाद में, ईसाई धर्म, विशेषकर सेंट थॉमस एक्वीनास (1225–1274) ने इस प्राकृतिक विधि की जड़ उस ईश्वरीय विधि (Divine Law) में खोजी जो ईश्वर–प्रदत्त अधिकार के माध्यम से मनुष्य द्वारा अंशतः पता लगाये जाने योग्य थी, मनुष्य को दैवी ढंग से प्रकाशित हुई। यूनान के सिटी–स्टेट में नागरिकों को वाक् की स्वतंत्रता, मताधिकार, लोकपद पर निर्वाचित होने का अधिकार, व्यापार करने का अधिकार तथा न्याय प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया। इसी प्रकार के अधिकार रोमन विधि के जस सिविल (Jus civile) द्वारा रोमवासियों को सुनिश्चित कराये गये। इस प्रकार, मानव अधिकारों की अवधारणा की

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i04.99

उत्पत्ति सामान्यतया ग्रीक–रोमन (Greco&Roman) प्राकृतिक विधि के स्टोयसिज्म (Stoicism) के सिद्धान्तों में पाया जाना माना जाता है जिससे यह माना गया कि एक सार्वभौमिक शक्ति सभी जीवों पर व्याप्त है और इसीलिए, मानव आचरणं प्राकृतिक विधि के अनुसार होना चाहिए।

हेनरी शष्ठम इंग्लैण्ड के सम्राट् जॉन द्वारा 15 जून, 1215 को इंग्लिश सामन्तों को प्रदान किया गया मैग्ना कार्टा तृतीय धर्मयुद्ध (Crusade) द्वारा सृजित भारी कराधान के भार तथा श्रद्धेय सम्राट, द्वारा बन्दी बनाये गये रिचर्ड प्रथम की फिरौती के उत्तर में था। इंग्लिश सामन्तों ने भारी करों का विरोध किया था तथा वे अपने अधिकारों में बिना मैग्ना कार्टा (Magna Carta) का अतिसाधनकारी (Overreaching) विषय सम्राट् के निरंकुश कृत्य के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करना था। मैग्ना कार्टा ने भी खण्ड 39 में जूरी विचारण की अवधारणा को प्रारम्भ किया जिसमें मनमानापूर्ण ढंग से की गयी गिरफ्तारी तथा कारावास के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया गया। इस प्रकार, चार्टर में यह सिद्धान्त पेश किया गया कि सम्राट् की शक्ति आत्यंतिक नहीं होती है। यद्यपि चार्टर विशेषाधिकार प्राप्त उच्चवर्गीय लोगों के लिए लागू होता था, शनैः–शनैः इस अवधारणा का विस्तार हुआ तथा वर्ष 1689 में बिल ऑफ राईट्स (Bill of Rights) में समस्त इंग्लिश व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया और अन्ततः सभी नागरिक इसकी परिधि में आ गये। वर्ष 1216–17 में जॉन के पुत्र, हेनरी तृतीय (Henry III) के शासनकाल के दौरान, मैग्ना कार्टा की संसद द्वारा पुष्टि की गयी, और वर्ष 1297 में एडवर्ड, प्रथम ने इसकी उपान्तरित रूप में पुष्टि की। वर्ष 1628 में पेटिशन ऑफ राईट्स (Petition of Rights) द्वारा तथा वर्ष 1689 में बिल ऑफ राईट्स (Bill of Rights) द्वारा इसे और अधिक सुदृढ़ किया गया जिससे कि सम्राट् पर संसदीय सर्वोच्चता प्रदान करने तथा इंग्लैण्ड में विधियों के नियम हेतु दस्तावेजी प्रमाण देने के लिए मंच तैयार किया जा सके। उपरोक्त के अतिरिक्त, सेंट थॉमस एक्वीनास (St- Thomas Acquinas) तथा ग्रोसियस के लेखों में भी इस विचार की झलक मिलती है कि मानव जाति को कतिपय व्यापक तथा असंक्राम्य (inalienable) अधिकार प्राप्त हैं। '"पुरुषों के मूल अधिकार" (fundamental rights of man) की अभिव्यक्ति कई राज्यों की घोषणाओं और संवैधानिक लिखतों में पायी जाती है। उदाहरण के लिए, 1776 में 13वें संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वतंत्रता की घोषणा (Declaration of Independence), वर्जिनिया बिल ऑफ राईट्स 1776 (Virginia Bill of Rights), संयुक्त राज्य के 1787 के संविधान में तथा उसके पश्चात् 1789, 1865, 1869 और 1919 के संशोधनों में पुरुषों के अधिकारों (Rights of Man) को शामिल किया गया। पुरुषों तथा नागरिकों के अधिकारों (Rights of Man and Citizen) की 1789 में फ्रांसीसी घोशणा (French Declaration) ने अन्य यूरोपीय देशों को मानव अधिकार के संरक्षण के लिए उनकी विधियों में प्रावधान शामिल करने के लिए उत्प्रेरित किया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अधिकतर राज्यों द्वारा यह मान्यता दी गई कि मानव कतिपय अधिकार धारण करते हैं। 1809 में स्वेडन, 1812 में स्पेन, 1814 में नार्वे 1813 में बेल्जियम, 1849 में डेनमार्क, 1850 में प्रसा और 1874 में स्विट्जरलैण्ड में पुरुषों के मूल अधिकारों के लिये प्रावधान बनाये गये। अतः यह कहा जा सकता है कि कई राज्यों ने उन्नीसवीं सदी तक अपने–अपने संविधानों में मानव के अधिकारों के संरक्षण के लिए प्रावधान बना लिये गये।

अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार विधि (International Human Rights Law)

अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार विधि ऐसी विधि को कहा जाता है जो मानव अधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर अभिवृद्धि तथा संरक्षण प्रदान करती है। मानव आधिकार सभी व्यक्तियों के लिये होने के कारण एक अर्थ में यह अन्तर्राष्ट्रीय है। इस प्रकार से, वैयक्तिक मानवाधिकारों को उपलब्ध कराने की बाध्यता मुख्य रूप से अन्तः देशीय (intra&national) एवं कुछ मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय (international) हैं। राज्य प्रभुत्व सम्पन्नता जो सत्रहवीं शताब्दी में अपने प्रादुर्भाव से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में विद्यमान थी, व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करने हेतु राज्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय विधिक बाध्यता अधिरोपित करने के प्रयासों में अवरोधक सिद्ध हुआ। राज्य प्रभुता का सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी में भी रहा तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अभिभावी रहा। निःसंदेह, उपरोक्त नियम के अपवाद भी थे जिसमें वर्ष 1926 के दासत्व अभिसमय का ग्रहण किया जाना एवं वर्ष 1919 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना तथा उसके पश्चात्वर्ती क्रियाकलाप सम्मिलित थे। प्रथम विश्व–युद्ध के पश्चात् राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी किन्तु उसकी प्रसंविदा में मानव अधिकारों की अभिवृद्धि तथा संरक्षण के लिये कोई प्रावधान नहीं बनाया गया। प्रसंविदा के अनुच्छेद 22 में आत्म–निर्णय के अधिकार के लिए मैनडेट (Mandate) व्यवस्था बनायी गयी थी जिसके अनुसार उपनिवेश में रहने वाली जनसंख्या को सामूहिक अधिकार प्रदान किया गया था। साधारण भाषा में आत्मनिर्णय का सम्बन्ध स्वतंत्र राज्य से है। मानव व्यक्तित्व के मूल्यों की प्राप्ति की अनुभूति का मार्ग 1929 में राज्य के विरुद्ध मानव के अधिकारों की घोषणा जारी कर अंतर्राष्ट्रीय विधि संस्थान (Institute of International Law) ने दिखलाया। फिर भी, मानव के अधिकारों की गणना करने के स्थान पर इसके द्वारा राज्य के कर्तव्यों का अभिकथन किया गया, जो इस प्रकार है–

(1) प्रत्येक व्यक्ति के प्राण, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता दिया जाना राज्यक्षेत्र के भीतर सभी को राष्ट्रीयता, लिंग, मूल वंश, भाषा अथवा धर्म के किसी भेदभाव के बिना उनके अधिकारों को पूर्ण संरक्षण प्रदान करना।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आस्था, धर्म अथवा विश्वास के अधिकार को व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक रूप से मान्यता देना।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपनी भाषा के स्वतंत्र प्रयोग और उस भाषा के शिक्षण के अधिकार की मान्यता देना।

(4) यह मान्यता देना कि समानता नाम मात्र की न होकर प्रभावी हो;

(5) यह मान्यता देना कि इसके सामान्य विधायन पर आधारित हेतुओं के सिवाय किसी भी राज्य को यह अधिकार नहीं होगा कि वह उनसे उनकी राष्ट्रीयता, लिंग, मूल वंश, भाषा अथवा धर्म के कारणों को वापस कर ले, उसे इस घोषणा में अनुध्यात प्रत्याभूति से वंचित नहीं करना चाहिए।

वर्तमान समय में मानव अधिकार आन्दोलन का जन्म द्वितीय विश्व–युद्ध के अनुभव के परिणामस्वरूप हुआ। युद्ध के दौरान मानवता के विरुद्ध वीभत्स अपराध किये गये और मूल मानवीय अधिकारों का पूर्णतया उल्लंघन किया गया। जर्मनी के नाजी नेताओं ने विधिविहीनता तथा निरंकुशता का राज्य स्थापित कर बर्बरता से अपने राज्य–क्षेत्र के अन्तर्गत मानवीय मूल्यों और गरिमा की

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i04.99

अवहेलना की। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि मानव को उनके मूल अधिकार व स्वतंत्रतायें प्रदान की जायें। यह विचार राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D- Roosevelt) द्वारा 6 जनवरी, 1941 को जारी की गई उद्घोषणा से स्पष्ट होता है, जिसे "चार स्वतंत्रताओं (Four Freedoms)" के नाम से जाना जाता है। इसमें उन्होंने वाक् की स्वतंत्रता (Freedom of Speech), धर्म की स्वतंत्रता (Freedom of Religion), अभाव से मुक्ति (Freedom from Want) तथा भय से मुक्ति (Freedom from Fear) को सूचीबद्ध किया। द्वितीय विश्व–युद्ध चल रहा के प्रारम्भ से मित्र देश (Allied Countries) तथा राज्यों के नेता शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने के लिए प्रयास कर रहे थे। संयुक्त राष्ट्र स्थापित होने के पहले भी कई सम्मेलन तथा बैठकें आयोजित की गई थीं।' संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन डी रूजवेल्ट (Franklin D- Roosevelt) और यूनाइटेड किंगडम के प्रधानमंत्री विंसटन चर्चिल (Winston Churchil) द्वारा 14 अगस्त 1941 के दस्तावेज में जारी की गई संयुक्त घोषणा को **अटलांटिक चार्टर** के नाम से जाना जाता है। उसमें शान्ति स्थापित करने का तथा इस बात का आश्वासन दिया गया कि सभी देशों में सभी व्यक्ति भय और अभाव से स्वतंत्र होकर अपना जीवन व्यतीत करेंगे। वाशिंगटन में 1 जनवरी 1942 को हस्ताक्षरित संयुक्त राष्ट्र घोषणा' में **अटलांटिक चार्टर** के सिद्धान्तों की अभिपुष्टि की गई। डम्बर्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) प्रस्ताव में प्रस्तावित महासभा और आर्थिक व सामाजिक परिषद् को मानव अधिकार के संरक्षण से सम्बन्धित क्रिया–कलापों को करने के बारे में कहा गया था।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अधीन मानव अधिकार

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन में कई राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया था कि संयुक्त राष्ट्र के अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय बिल (International Bill of Rights) प्रस्तुत करना चाहिए। अतः संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में मानव अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। चार्टर की उद्देशिका और अनुच्छेद 1, 13 (1) (ख), 55, 56, 62(2), 68 और 76 (ग) में मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं की अभिवृद्धि के लिए प्रावधान शामिल किया गया जो निम्न प्रकार है–

1) चार्टर की उद्देशिका अपने प्रथम परिच्छेद में यह अधिकथित करती है कि "संयुक्त राष्ट्र के लोग बड़े और छोटे राष्ट्रों के समान अधिकारों के प्रति निष्ठा को पुनः अभिपुष्ट करने के लिए दृढ़ निश्चित हैं.....।"
2) चार्टर के अनुच्छेद 1 के परिच्छेद 3 में वर्णित उद्देश्यों में से एक मूल वंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की अभिवृद्धि करने और उसे प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है।
3) संयुक्त राष्ट्र के दो अंग महासभा (General Assembly) तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) को मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं में अभिवृद्धि करने का कार्य सौंपा गया। अनुच्छेद 13 द्वारा, महासभा को मूल वंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं

को प्राप्त करने में, सहायता करने के प्रयोजन के लिए अध्ययन करने तथा सिफारिश करने के लिए सशक्त किया गया।

4) अनुच्छेद 55 यह प्रावधान करता है कि संयुक्त राष्ट्र (अ) उच्चतर जीवन स्तर, पूर्ण नियोजन और आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति के लिए अभिवृद्धि करेगा, (ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य विषयक और सम्बद्ध समस्याओं के हल, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शैक्षणिक सहयोग की अभिवृद्धि करेगा।

5) अनुच्छेद 56 द्वारा संयुक्त राष्ट्र के सदस्य अनुच्छेद 55 में उपवर्णित प्रयोजनों पूर्ति के लिए संगठन के सहयोग से संयुक्त या पृथक् रूप से कार्यवाही करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

6) चार्टर का अनुच्छेद 62 आर्थिक और सामाजिक परिषद् को मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आदर बढ़ाने के प्रयोजन के लिए और उनके पालन के लिए सिफारिशें करने के लिए सशक्त करता है।

7) अनुच्छेद 68 आर्थिक और सामाजिक परिषद् को आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में मानव अधिकारों की अभिवृद्धि के लिए आयोग तथा ऐसे अन्य आयोगों को स्थापित करने का निर्देश देता है।

8) अनुच्छेद 76 का परिच्छेद (ग) यह प्रावधान करता है कि न्यासिता प्रणाली के मूल उद्देश्यों में से एक मूल वंश, लिंग, भाषा और धर्म के आधार पर बिना भेद–भाव के सभी के लिए मानव अधिकारों के प्रति और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आदर को प्रोत्साहन देना और विश्व के लोगों को एक दूसरे पर आश्रित होने की मान्यता के लिये प्रोत्साहन देना है। उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त, चार्टर में बारम्बार 'मूलभूत मानव अधिकार', 'मानव के की गरिमा', 'समान अधिकार', 'न्याय', 'सामाजिक उन्नति एवं मूलभूत स्वतंत्रता' की अवधारणा को मूल्य संदर्भित किया गया है। चार्टर में लोगों के आत्म–निर्णय (Self determination) के विषय में तीन अध्याय हैं।

मानव अधिकारों की अभिवृद्धि एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं से सम्बन्धित प्रावधानों को सम्मिलित करके चार्टर में अंतर्राष्ट्रीय विधि के उन्नतिशील विकास का एक नया मार्ग खोला गया। इसके द्वारा मानव अधिकार की अवधारणा का सार्वभौमिकीकरण (universalization) तथा अन्तर्राष्ट्रीयकरण (internationalization) किया गया जो विगत 200 वर्षों से केवल कुछ ही राज्यों द्वारा अंगीकृत किया गया था। सार्वभौमिकीकरण से अभिप्राय यह है कि मानव अधिकारों को विश्व के सभी राष्ट्रों के द्वारा सहमति प्रदान की गयी। उनकी मान्यता एवं उनकी प्राप्ति को आवश्यक माना गया क्योंकि उन्हें राज्यों के बीच एकता प्राप्त करने के तरीकों में से एक तरीका माना गया और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिए अपरिहार्य समझा गया। चार्टर के अनुच्छेद 55 की शब्दावली से यह स्पष्ट है, जिसमें यह कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र सभी के लिए मूल वंश, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर बिना किसी भेद–भाव के मूलाधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं के सार्वभौमिक सम्मान एवं प्रेक्षण (observance) की अभिवृद्धि, राष्ट्रों के मध्य शांतिपूर्ण एवं मित्रवत् सम्बन्धों के लिए आवश्यक है। अतः मानव अधिकारों के प्रेक्षण में शांति का आवश्यक तत्व अंतर्विष्ट होता है। **सैन फ्रांसिस्को** के

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2025.v16i04.99

समापन भाषण में राष्ट्रपति ट्रुमैन ने मानव अधिकारों की अभिवृद्धि एवं अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने के सम्बन्ध में यह कहा था कि : "चार्टर मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति एवं प्रेक्षण के प्रति समर्पित है। जब तक हम सभी पुरुष एवं महिलाओं के लिए हर जगह मूल वंश, भाषा अथवा धर्म पर बिना ध्यान दिये हुए इन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर लेते हैं, विश्व में स्थायी शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती।'

यह उल्लेखनीय है कि चार्टर में न तो मानव अधिकारों की परिभाषा दी गई है और न ही उनकी परिगणना की गयी है। चार्टर में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं है जिसने स्पष्ट कथन प्रतिपादित किया हो कि राष्ट्रों का विधिक उत्तरदायित्व है कि वे मानवाधिकारों तथा मूल स्वतंत्रताओं का पालन करें। विभिन्न राज्यों में न्यायालयों ने मानवाधिकार सम्बन्धी चार्टर उपबन्धों के विधिक प्रभाव पर विचार करने का प्रयास किया है। कुछ ने इसकी बाध्यकारी प्रकृति की पुष्टि की है और चार्टर उपबन्धों की प्रयोज्यता का निदेश किया है जबकि कुछ अन्य राज्यों ने इसको बाध्यकारी नहीं माना है। अन्य ने इसको बाध्यकारी रूप में विचार करते समय इस आधार पर इन्हें प्रयोज्य करने से इन्कार किया है कि वे औपचारिक रीति में राष्ट्रीय विधि के भाग के रूप में निगमित नहीं किये गये हैं।' अन्य जब कि उसको इन्कार कर रहे हैं कि ये आन्तरिक विधि पर प्रत्यक्षतया बाध्यकारी हैं, यह इस अर्थ में प्रत्यक्षतया या अप्रत्यक्षतया रूप में सुसंगत है क्योकि चार्टर के हस्ताक्षरकर्ता होने के कारण यह उनके लोकनीति का भाग बन गया है।

सन्दर्भ

1. डॉ0 एच0 ओ0 अग्रवाल–मानव अधिकार ।
2. प्रो0 रामानन्द गेरौला–मानव अधिकार ।
3. वी0एन0 मणि त्रिपाठी–विधि शासन एवं विधि सिद्धान्त।
4. इन्द्राजीत सिंह–विधि शास्त्र एक परिचय।
5. के0 डी0 गौड़–भारतीय दण्ड सहिंता ।
6. हरिओम अग्रवाल–मानव अधिकार।
7. हरिओम अग्रवाल–अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं मावन अधिकार।
8. बसन्ती लाल बाबेल–मानवाधिकार।
9. एन0 वी0 परांजपे–भारतीय साक्ष्य अधिनियम।